वार्षिक सदस्यता शुल्क - रु. २५/-

September- 2026

स्वानुभूतिप्रकाश

प्रकाशक :
श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
भावनगर - ३६४ ००१.

अपेक्षावृत्ति – गंभीर अपराध!

– पूज्य भाईश्री शशीभाई

'ज्ञानीसे यदि किसी भी प्रकारसे धन आदिकी इच्छा रखी जाती है, तो जीवको दर्शनावरणीय कर्मका प्रतिबंध विशेष उत्पन्न होता है।' क्या कहते हैं? ज्ञानीसे या किसी भी मुमुक्षुसे भी, जहाँ भी धार्मिक संबंध हो, वहाँ जहाँतक संभव हो आर्थिक व्यवहार नहीं करना चाहिये। आर्थिक व्यापार नहीं करना चाहिये या आर्थिक लाभ हो वैसी इच्छा या कामना नहीं रखनी चाहिये।

बाज़ारमें जाकर व्यापार करना वह चारित्रमोहका कारण है, जबकि यह दर्शनमोहका कारण है। ज्ञानीके प्रति तो नहीं अपितु किसी मुमुक्षुके प्रति भी नहीं, धनकी इच्छा नहीं रखनी चाहिये, किसी भी प्रकारसे। *'ज्ञानीसे यदि किसी भी प्रकारसे धन आदिकी इच्छा रखी जाती है,...'* धन आदि उसमें आदिमें किसी भी चीज़की कामना। सीधी पैसेकी नहीं तो किसी भी तरह 'मुझे यह देवे तो ठीक', 'मुझे इतना मिल जाये तो ठीक', 'ऐसा हो जाये तो ठीक' वैसे *'तो जीवको दर्शनावरणीय कर्मका प्रतिबंध विशेष उत्पन्न होता है। प्रायः ज्ञानी, किसीको अपनेसे वैसा प्रतिबंध न हो, इस तरह प्रवृत्ति करते हैं।'* ज्ञानीको वात्सल्य होता है परंतु अगले जीवको वैसी इच्छा रहा करे ऐसे प्रकारमें नहीं आते। हो सके वहाँ तक सीधा व्यवहार नहीं करते, किसी दूसरे द्वारा सहाय कर देते हैं। किसीको खुदको वात्सल्यभाव होना एक बात है और अपेक्षा रखना, लेनेवाला अपेक्षा रखे, यह बिलकुल अलग-अलग बात है। दोनोंके लिये न्याय उलटा-सुलटा है। क्या? अपेक्षावृत्ति जीवको दर्शनमोहकी वृद्धि करता है। वात्सल्यभाव तो जिसका वात्सल्यका प्रकार हो उसको आता है इसमें कोई बड़ी बात नहीं है। वह तो वात्सल्यके कारण कुछ भी करे। परंतु खुदको अपेक्षावृत्ति नहीं होनी चाहिये। खुदको निषेध आना चाहिये। जबकि अपेक्षावृत्तिका तो सर्वांग निषेध है। केवल एक इस प्रकारमें नहीं सभी प्रकारमें।

कुटुंबमें भी आपसमें क्लेश होनेका मुख्य कारण अपेक्षावृत्ति ही होती है। क्योंकि हमारे जो कौटुंबिक संबंध होते हैं उसको लेकर हमलोग कुछएक अधिकार मानकर बैठ जाते हैं – वैसे हमारा इतना तो अधिकार है। और उस अधिकारके कारण, अधिकारबुद्धिके कारण, अधिकारके अभिप्रायके कारण अपेक्षा उत्पन्न हो जाती है। जब इस अपेक्षाकी पूर्ति नहीं होती, अपेक्षाके मुताबिक जब सामनेवाला जीव प्रवर्तन नहीं करता है तब उसमें से क्लेश व आकुलताका जन्म हो जाता है। अतः कहीं भी अपेक्षा नहीं रखनी है, यदि आपको दुःखी न होना हो तो। और जितनी अपेक्षा रखेंगे उतना दुःखी होना निश्चित है। अतः हमें अपनी तरफसे अपेक्षा नहीं रखनी है। यह एक सुखी होनेके लिये गाँठ मार लेनी चाहिये (द्रढ़ निश्चय कर लेना

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १७ पर..)

स्वानुभूतिप्रकाश

वीर संवत्-२५५२, अंक-३४५, वर्ष-२८, सितंबर-२०२६

कहानरत्न किरणें!!

- अध्यात्म युगसृष्टा
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
('परमागमसार'में से साभार उद्धृत)

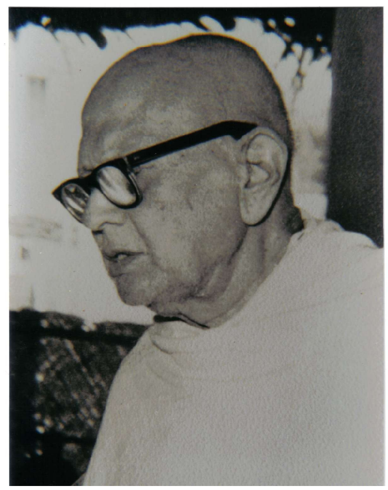

अन्तरंगमे सदा ही जगमग ज्योति प्रकाशमान, अविनश्वर, स्वतःसिद्धि तथा परमार्थ सत्, परम पदार्थ - ऐसा भगवान ज्ञान-स्वभाव है। उसके अवलम्बनसे इन्द्रियोंका जीतना हो - उसे संत जितेन्द्रिय कहते हैं। ४२४

*

जो निर्मल भावका पिण्ड है ऐसे चैतन्यकी जिसे महिमा है उसे सम्यग्दृष्टि कहते हैं, उसे दया-दान आदिके रागकी व उनके फलकी महिमा नहीं होती। जिन्हें दया-दान आदिके रागकी व उसके अनुकूल फलकी महिमा है, उन्हें सुख समूह-आनन्दकन्दरूप आत्माकी महिमा नहीं आती। जिनको व्यवहार रत्नत्रयके शुभ-रागकी, देव:शास्त्र-गुरुकी अन्तरमें महिमा वर्तती है; उनको ''निमित्तका जिसमें अभाव है - रागका जिसमें अभाव है -'' ऐसे स्वभाव-भावकी महीमा नहीं है; जिससे उन्हें पर्यायमें आनन्द नहीं आता। जिनको शुभ-भावसे लेकर बाहरमें कुछ भी अधिकता, आश्चर्य और महिमा (लगती) है - उनको सम्यग्दर्शन नहीं होता। ४२५

*

मैं जाननेवाला, देखनेवाला ज्ञाता हूँ - ऐसा बारंबार अंतरमुख अभ्यास करनेसे ज्ञातापना प्रकट होता है, तब विकल्पका कर्तृत्व छूटता है। ४२६

*

चैतन्यमूर्ति - मुक्तरूप है। चैतन्यमूर्ति - अनन्त गुणका अरूपी स्वरूप - वह अन्दरमें मुक्त-स्वरूप है। इस मुक्त-स्वरूपका अन्तर-ध्यान करनेसे पर्यायमें मुक्त-स्वरूप प्रकट होता है। मुक्त-स्वरूप बाह्यसे प्रकट नहीं होता, बल्कि अन्तरमें जो पूर्णानन्द-स्वरूप है - उसे दृष्टिमें लेकर, उसका ध्यान कर, अन्तरमें स्थिर हो जानेसे पर्यायमें मुक्ति प्रकट होती है।

ध्यान करना हो आता ही है न? - आर्तध्यान

आदि तो करता ही है। पुत्रके लग्न पर पूरी वरसवारी (निकासी) निकल जाए तो भी विचारमें-ध्यानमें-विकल्पमें ऐसा मशगूल हो जाता है कि उसकी खबर ही न पड़े। वैसे ही अतीन्द्रिय आनन्द, स्वरूप प्रभुको ध्यानमें लेकर जम जा। ४२७

*

आत्मामें अनन्त गुण भरे हैं व एक-एक गुणमें अनन्त गुणोंका रूप है व एक-एक गुणमें अनन्त पर्याय प्रकट करनेकी शक्ति है। तेरा स्वदेश भगवान! अनन्त गुणोंकी अद्‌भुत ऋद्धियोंसे युक्त है। उसमें एक बार दृष्टि दे तो तुझे संतोष मिलेगा – आनन्द मिलेगा। पुण्य-पापके परिणाममें दृष्टि देनेसे तो दुःखका वेदन होता है। ४२८

*

शुभ-राग होना – यह कोई विशेषता नहीं। क्षणमें शुभ और क्षणमें अशुभ-भाव हुआ ही करते हैं। अरे! निगोदमे जीवको भी, जो अनादिसे बाहर आया ही नहीं और अनन्त काल तक भी बाहर नहीं आयेगा, क्षणमें शुभ और क्षणमें अशुभ-राग आया करते हैं – यह कोई विशेष बात नही। धर्मीको ज्ञानधारा प्रतिक्षण चला करती है। इस ज्ञान-धाराका चलना – यही विशेष बात है। इस ज्ञानधारासे ही संसार-भ्रमणसे छुटकारा मिलता है। ४२९

*

प्रश्न :- ग्यारह अंग और नौ पूर्वके ज्ञानवाले पंचमहाव्रतोंका पालन करते हैं, फिर भी आत्मज्ञान करनेमें क्या कमी रह जाती है?

उत्तर :- ग्यारह अंगका ज्ञान और पंचमहाव्रतका पालन करने पर भी उन्हें भगवान आत्माका अखंड-ज्ञान करना बाकी रह जाता है। खंड-खंड इन्द्रिय ज्ञान तो ग्यारह अंगका कार्य है; वह खंड-खंड ज्ञान परवश होनेसे दुःखका कारण है। अखंड-आत्माके ज्ञान रहित जीवका ग्यारह अंगका ज्ञान नाशको प्राप्त होते हुए, कालक्रमसे वह निगोदमें भी चला जाता है। अखंड-आत्माका ज्ञान करना – वही मूल वस्तु है, उसके बिना भवभ्रमणका अन्त नहीं। ४३०

*

प्रश्न :- निश्चय (शुद्ध परिणमन) के साथ जो उचित राग (भूमिका अनुसारका राग) वर्तता है, उसे क्रोध कहा जाए क्या?

उत्तर :- नहीं, यहाँ समयसार गाथा ६९-७०-७१ में कहा है कि जिसे आत्म-स्वभावकी रुचि नहीं – अनादर है, उसके रागभावको क्रोध कहा है, तात्पर्य यह है कि मिथ्यात्व सहितके रागादि-भावको क्रोध बतलाया है। ज्ञानीको अपनी अस्थिरतारूप रागका ज्ञान होता है। ज्ञानके परिणमनवाले ज्ञानीको आनन्दरूप आत्मा रुचता है – आत्माका एहसास होता है, अतः उसको रागकी रुचिरूप क्रोध होता ही नहीं – जिससे क्रोध (स्व-रूप) मालूम नहीं होता। अज्ञानीको दुःखरूपभाव-रागभाव रुचता है, आनन्दरूपभाव नहीं रुचता – जिससे उसे क्रोधादि ही मालूम होते हैं, आत्माका एहसास नहीं होता। आत्मा अतीन्द्रिय आनंद स्वरूप है उसकी जिसे रुचि नहीं व पुण्यके परिणामकी रुचि है – उसे आत्माका अनादर है, जिससे उसे स्वरूपप्राप्तिका क्रोध कहा है। ४३१

*

प्रश्न :- जब आत्मा परोक्ष है तो कैसे जाननेमें आए?

उत्तर :- आत्मा प्रत्यक्ष ही है। पर्याय अन्तरमुख हो तो आत्मा प्रत्यक्ष है - ऐसा जाननेमें आता है। बहिर्मुख पर्यायवालेको आत्मा प्रत्यक्ष नहीं लगता - प्रत्यक्ष नहीं दिखता, पर आत्मा तो प्रत्यक्ष ही है। उसके सम्मुख ढ़लकर देखे तो जाननेमें आए। ४३२

*

(चलो सखी वहाँ जईए जहाँ अपना नहीं कोय,

शरीर भखे जनावरा मुवा रोवे न कोय।)

आहा हा! संगसे दूर हो जा! संगमें रुकना योग्य नहीं। गिरि-गुफामें अकेला चला जा। यह मार्ग अकेलेका है। जो स्वभावके संगमें अनुरक्त हुआ उसे शास्त्र-संग भी नहीं रुचता। आहा हा! अन्तरकी बातें बहुत सूक्ष्म हैं, भाई! क्या कहें। ४३३

*

सचमें तो आत्मा रागको त्यागता है - यह कहना भी नाममात्र है। क्योंकि रागादिको परभावरूप जानकर, ज्ञानमें स्थिर होने पर, रागादि उत्पन्न होते ही नहीं। अतः स्थिर हुआ ज्ञान ही प्रत्याख्यान है। ४३४

*

''आत्मा ज्ञानस्वरूपी प्रभु है'' - ऐसा जिसके ज्ञानमें आया है, वह ज्ञानीजीव जीवनमें स्थिर हो जाता है - यह प्रत्याख्यान है। जहाँ ज्ञान-ज्ञानमें स्थिर हुआ, वहाँ विशेष आनन्दकी धारा बहती- यही प्रत्याख्यान है। स्वयंके ज्ञानमें रागकी अभावरूप अवस्था अर्थात् उग्र आनन्दकी अवस्था ही प्रत्याख्यान है। ४३५

*

वास्तविक त्याग किसे कहा जाए? - अतीन्द्रिय आनन्दके नाथकी दृष्टि तो हुयी है और रागरूप नहीं होनेवाला मेरा जो द्रव्यस्वभाव है, वह रागरूप नहीं होता - ऐसे जब द्रव्यस्वभावमें स्थिर होता है, तब रागका परिणमन छूट जाता है - यह रागका त्याग है। सचमुच तो ''आत्मा रागका त्याग करता है'' ऐसा कहना भी नाममात्र है; क्योंकि रागरूप हुआ नहीं व आनन्दरूप परिणमित होता हुआ आत्मामें स्थिर होने पर राग उत्पन्न ही न हुआ, अतः ''रागका त्याग करता है'' - ऐसा वह कथन मात्र है। ४३६

*

हे भव्य! ''राग यह मेरा कार्य है - राग सो मैं हूँ'' - ऐसा निरर्थक कोलाहल छोड़दे। शुभराग है, पर यह तेरा कार्य नहीं। राग तो तेरा अकार्य है। दया-दान-व्रत-तप-भक्तिका राग हो या गुण-गुणीके भेद-विकल्परूप राग हो; पर यह निरर्थक कोलाहल है। इस कोलाहलसे तुझे क्या लाभ है? प्रभु! इस कोलाहलसे तूँ विरक्त हो। पुण्य-परिणामके कार्यसे तूँ मुक्त हो। ४३७

*

परिणामको परिणाम द्वारा देख - ऐसा नहीं; किन्तु परिणाम द्वारा ध्रुवको देख। पर्यायसे परको तो न देख-पर्यायको भी न देख; पर जो भगवान पूर्णानंदका नाथ प्रभु है उसे पर्यायसे देख-उसे तूँ निहार - तेरी दृष्टि वहाँ लगा, छः मास ऐसा अभ्यास कर। अन्तर्मुख तत्त्वको अन्तर्मुख परिणाम

द्वारा देख। अन्तरमें प्रभु परमेश्वर स्वयं विराजते हैं, उन्हें एक बार छः मास तो खोज- यह क्या है? अन्य चपलता और चंचलता छोड़कर अन्तरमें जो भगवान पूर्णानन्दका नाथ ''सिद्धसदृश प्रभु है'' - उसे छः मास तो शोध। ४३८

*

यह छः मासका अभ्यास बतलाया जिससे ऐसा न समझना कि इतना ही समय लगता है। वास्तवमें तो वह एक समयमें प्राप्त होता है, पर उपयोग असंख्य समयका होनेसे अन्तर्मुहूर्तमें प्राप्त होता है। लेकिन शिष्यको कठिन लगता हो तो कहते हैं कि छः माससे अधिक समय नहीं लगता। अतः ज्ञायक भगवानकी लगनी लगा। ४३९

*

परसे विरक्ता और विभावकी तुच्छता भासित हुए बिना, अन्तरमें नहीं उतर सकते। (हम) स्त्री-पुत्र-पैसा आदिसे समृद्ध हुए हैं - ऐसा मानने वाले मूढ हैं। जिसे परद्रव्यसे विरक्ति नहीं होती, रागादि-विभावकी तुच्छता नहीं लगती और अन्तरमें छटपटाहट अर्थात् उत्कण्ठा न जगे, वह अन्तरमें कैसे उतर सके? ४४०

*

देहकी स्थिति तो मर्यादित है ही, कर्मकी स्थिति भी मर्यादित है और विकारकी स्थिति भी मर्यादित है। स्वयंकी पर्यायमें जो कार्य होता है वह भी मर्यादित है। किन्तु अन्तरमें याने कि स्वभावमे मर्यादा नहीं होती। प्रभु! वस्तुस्वभाव ज्ञानस्वभाव आदि त्रिकाली-स्वभावकी मर्यादा ही नहीं। धर्मीकी दृष्टि उस अमर्यादित-स्वभाव पर होती है। धर्मी बाह्य कार्यमें संलग्न दिखता है, पर (वास्तवमें) वह तो अमर्यादित-स्वभावमें झूलता है; उसकी दृष्टि वहाँ जम जाती है। ४४१

*

निज वस्तु अखंड़-आनन्दकन्द चैतन्य है, - उसकी जिन्हें खबर नहीं, वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं। फिर चाहे, वे करोड़पति हों या बड़े राजा हों, पर अपनी चैतन्यलक्ष्मीका भान नहीं तो वे सब चलते-फिरते मुर्दे हैं। दुनियामें चतुराईसे पाँच-पच्चीस लाख कमाते हों, या लौकिकबुद्धिके खाँ बने घूमते हों: पर वे निज-प्रभुताके भान बिना, अपनी महानताके भान बिना नरकादिके अनन्त-अनन्त दुःख भोगेंगें - कि जिन दुःखोंका वर्णन करोड़ो जीभ द्वारा करोड़ो भव तक करें, तो भी न कर पायेंगें। निज प्रभुके भान बिना ऐसे अनन्त दुःख भोगने पडेंगे। ४४२

*

जिन्हें आत्मा पुसाता(रुचता)है, उनसे आत्मा गुप्त नहीं रहता। जिन्हें पूर्ण स्वरूप भगवान आत्मा रुचिसे पुसाता है व अन्य कुछ भी नहीं पुसाता- उन्हें आत्मा प्रकट हुए बिना नहीं रहता। ४४३

*

शुभराग भी जिन्हें नहीं पुसाता और आत्मा ही पुसाता है, उन्हें आत्मा प्रकट हुए बिना नहीं रहता। ४४४

*

प्रश्न :- ध्रुवमें एकाग्रता करनेके लिए ध्रुवको कहाँ खोजें?

उत्तर :- वस्तु स्वयं ही ध्रुव-स्वरूप है। 'वस्तु है ही'; उसे कहाँ खोजने जाना है? एक समयकी पर्याय है वह किसके आधारसे है? वस्तु है, 'है'

और 'है'। प्रथम एक समयकी पर्यायमें ध्रुव-वस्तुका महात्म्य भासित होना चाहिए। सर्वज्ञने जिसके गुणगान किये हैं , ऐसी अनन्त अपार-अपार महिमावाली वस्तु – 'आत्मा है कौन'? – कि जिसके सामर्थयका पार नहीं – जिसकी आश्चर्यताका-अद्भुत्ताका पार नहीं-जिसकी शक्तियोंका पार नहीं – ऐसी महिमावन्त वस्तुका ज्ञान-(पर्यायमें निर्णय) करने पर इस ध्रुव वस्तुकी महिमा आती है। यह महिमा आते-आते, जैसा स्वरूप है वैसी महिमा आने पर, पर्याय ध्रुवमें ढल जाती है। आहा हा!! अनन्त-अनन्त गुणका पिण्ड प्रभु है! इसका प्रत्येक गुण मुक्तस्वरूप है-वीतरागस्वरूप है। इसका ज्ञान होकर प्रतीति हुयी कि बस! सब काम हो गया। मुक्ति प्रतीतिमें आयी, अर्थात् हाथमें आ गयी। ४४५

*

प्रश्न :- आत्माका साक्षात्कार करना है, पर कैसे करें? वैसा पुरुषार्थ नहीं जगता।

उत्तर :- चैतन्यस्वभावकी महिमा तो अचिन्त्य है – अन्तरमें ऐसी महिमा आए तो स्व-ओर पुरुषार्थ उमड़े। वास्तवमें तो पर्याय पर-लक्ष्यी है, उसे स्वलक्ष्यी करना – इसमें महान पुरुषार्थ है। कथन भले ही संक्षिप्त कर दिया कि 'द्रव्य-ओर ढले, ध्रुव-ओर ढले' – ऐसा कथन सरल और संक्षिप्त कर दिया; परंतु उसमें महान पुरुषार्थ है। भले ही शास्त्र-ज्ञान करे, धारणा-ज्ञान कर ले; पर 'पर्यायको स्वलक्ष्यमे ढालना' – यह अनन्त पुरुषार्थ है, महान और अपूर्व पुरुषार्थ है। ४४६

*

तूँ ज्ञायक निष्क्रिय-तलके ऊपर दृष्टि स्थापित कर न! पर्याय पर किस लिए जोर देता है? यह मेरी क्षयोपशमकी पर्याय विकसित हुयी – यह मेरी पर्याय हुयी – ऐसे पर्याय पर किसलिए जोर देता है? पर्यायरूप पलटते अंशमें त्रिकाली-वस्तु कहाँ आती है? त्रिकाली-ध्रुवदल – जो नित्यानंद प्रभु है – उस पर जोर दे न। ४४७

*

सम्यग्दृष्टि तो जीव-अजीव-आस्त्रव-बन्ध आदिके स्वांगोंको देखनेवाले हैं। रागादि आस्त्रव-बन्धके परिणाम होते हैं – पर सम्यग्दृष्टि उन स्वांगोंके देखनेवाले ज्ञाता-द्रष्टा हैं, कर्ता नहीं। सम्यग्दृष्टि इन स्वांगोंको कर्मकृत जानकर शान्त-रसमें ही मग्न रहते हैं। शुभाशुभ-भाव आते हैं-पर सम्यग्दृष्टि उन्हें कर्मकृत स्वांग जानकर उनमें मग्न नहीं होते। मिथ्यादृष्टि जीव-अजीवके भेदको नहीं जानते, जिससे वे कर्मकृत स्वांगोंको ही सत्य (निजरूप) जानकर उनमें मग्न हो जाते हैं; रागादि-भावोंको कर्मकृत – भाव होने पर भी, अपने भाव जानकर उनमें लीन हो जाते हैं। धर्मी जीव ऐसे अज्ञानी जीवोंको आत्माका यथार्थ स्वरूप बतलाकर, उनका भ्रम मिटाकर-भेदज्ञान कराकर-शान्तरसमें लीन कर, सम्यग्दृष्टि बनाते हैं। ४४८

*

आत्माको जाननेके लिए परिणामको सूक्ष्म कर; स्थूल परिणामसे द्रव्य जाननेमें नहीं आता। अज्ञानीको ग्यारह अंगका ज्ञान हो जाता है तो भी उसका उपयोग सूक्ष्म नहीं, स्थूल है। आत्मा स्थूल परिणामों द्वारा जाननेमें नहीं आता। ऐसे सूक्ष्म आत्माको जाननेके लिए उपयोगको सूक्ष्म करना पड़ता है। ४४९

लौकिकभावकी भयंकरता!!

श्रीमद् राजचंद्र, पत्रांक-५२८ पर प्रवचन

– सौम्यमूर्ति पूज्य भाईश्री शशीभाई

श्रीमद् राजचंद्र वचनामृत पत्रांक-५२८, पता-४३१। इस पत्रमें जीवके लौकिकभावका निषेध किया है। जीवको जो लौकिकभाव हो रहे हैं, लोकदृष्टि रहती है, इससे लोकचेष्टा करता है। चेष्टा करता है माने अपना दिखाव अच्छा करनेका प्रयास हो जाता है। यह आत्महितका घातक भाव है। आत्माको आगे बढ़नेमें बहुत बड़ा अवरोध है। इस दोषकी पहुँच कहाँ तक है? कि, यह दोष सत्संगमें भी खड़ा होता है, इसकी बात करते हैं।

'आत्महितके लिये सत्संग जैसा बलवान अन्य कोई निमित्त प्रतीत नहीं होता,...' क्या कहते हैं? कि, सत्संग तो एक ऐसा बलवान साधन है कि, जिससे आत्महित होता है, अवश्य होता है। यदि यथार्थरूपसे इसकी उपासना की जाये तो (अवश्य आत्महित होता है)। *'...फिर भी वह सत्संग भी...'* अर्थात् यह साधन भी *'...जो जीव लौकिकभावसे अवकाश नहीं लेता, उसके लिये प्राय: निष्फल होता है,...'* (सत्संगमें) भी लौकिकभाव आ जाता है। अत: वहाँ भी अपनी इज्जत, अपना दिखाव, अपना स्थान, मान इत्यादि प्रकार अंदरमें रहते हो तो वह सत्संग भी निष्फल जाता है।

'...और सत्संग कुछ सफल हुआ हो,...' यानी कि थोड़ा-बहुत फायदा हुआ हो, *'...तो भी यदि लोकावेश विशेष-विशेष रहता हो तो उस फलके निर्मूल हो जानेमें देर नहीं लगती,...'* (अर्थात्) वह फायदा भी चला जायेगा यानी कि सत्संगके कारण जो थोड़ी योग्यता आयी होगी वह योग्यता चली जायेगी। किस कारणसे (चली जायेगी)? कि, लोकावेशके कारणसे चली जायेगी।

मुमुक्षु :- लोकावेशमें क्या लेना?

पूज्य भाईश्री :- लोकावेश माने लोगोंके बीच या जो circle हो - group हो, जैसे मानो अपने यहाँ २५-३० लोग इकट्ठे होते हैं, उन लोगोंके बीच या अपनी जान-पहचानवालेमें जो भी अपनी छाप हो, उसमें अपना दिखाव बराबर होना चाहिये, रहना चाहिये। इस प्रकारका जो प्रयास है वह लोकावेश है।

मुमुक्षु :- भाईश्री! जैसे मानो एक घरमें दूसरा मुमुक्षु साथमें रहता हो वह मुमुक्षु दोष करता हो और वह दोष मुझे दिखता हो। अब इसमें मेरा भी परलक्ष्य होता है और परिणाम तो बिगड़ते हैं। अब यदि मुझे निर्दोष होना है इसलिये जाहिरमें सबके बीच उस परिणाम सम्बन्धित आपसे कुछ

पूछना है, लेकिन पूछनेके लिये मेरे परिणाम नहीं चलते हैं तो क्या यह लौकिकभावमें जायेगा?

पूज्य भाईश्री :- इसमें जाँच करनी चाहिये कि, किस कारणसे (पूछनेके परिणाम) नहीं चलते हैं? प्रतिबंधके कारण नहीं चलते हैं या लौकिकभावके कारण नहीं चलते हैं? वैसे अपने परिणामके पीछे निहित अभिप्रायको पकड़ना चाहिये।

मुमुक्षु :- मुझे पूर्ण निर्दोष होना है इस निर्णयमें ढीलापन होनेसे बोलनेमें नहीं आ रहा है?

पूज्य भाईश्री :- इसमें क्या है कि, मुझे निर्दोष होना है - इस प्रकारका बल (परिणाममें) नहीं है।

मुमुक्षु :- प्रसंगकी बात करने जाये तो उसका नाम देना पड़े कि, उसकी वजहसे मेरे ऐसे परिणाम होते हैं। अब मुझे तो पूर्ण निर्दोष होना है परन्तु मैं मेरे परिणाम यदि जाहिरमें सबके बीच नहीं कहता हूँ तो क्या इसका मतलब यह हुआ कि, मुझे ही पूर्ण निर्दोष नहीं होना है?

पूज्य भाईश्री :- जो क्षोभ हो रहा है - उस क्षोभके पीछे कोई न कोई कारण खुदका चलता है, तभी ऐसा होता है न! तो यदि (निर्दोष होनेके निर्णयका) बल पैदा हो तो क्षोभ नहीं रहेगा। बल उत्पन्न होगा तो क्षोभ नहीं होगा।

मुमुक्षु :- (बल आने पर) फिर मुझे भय नहीं रहेगा कि उसको क्या लगेगा। उसका जो होना हो सो हो मुझे निर्दोष होना है।

पूज्य भाईश्री :- मान लो उसको कुछ हुआ, संभव है कि उसको यह नहीं अच्छा लगा कि आपको निर्दोष होनेके साथ-साथ मेरी बात भी आप बीचमें ले आये और मेरी बातें खुल्ली कर दी, जो मैं नहीं चाहता था, ऐसा दु:ख लगनेका संभव जरूर है, बुरा लगनेका संभव जरूर है। तो हमें माफी माँग लेनी चाहिये कि, मैंने निर्दोष होनेके एक प्रयासरूप यह प्रवृत्ति की है। आपके परिणाम या आपके दोषको प्रगट करनेका मेरी प्रवृत्तिके पीछे हेतु नहीं था। ऐसा मैं शुद्ध अंत:करणसे कहता हूँ और वैसा ही शुद्ध अंत:करण होना भी चाहिये। फिर भी अगर आपको इस बातका दु:ख पहुँचा और वह भी मेरे निमित्तसे पहुँचा तो मैं क्षमा माँगता हूँ। ऐसे माफी भी माँग लेनी चाहिये, दोनों बात है।

मुमुक्षु :- लेकिन क्या कहना तो चाहिये ही?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, इसमें कोई दिक्कत नहीं। खुदका निर्दोष होनेका प्रयत्न करनेमें कोई हरजा नहीं। ऐसा प्रयत्न करनेमें हरजा नहीं है। मानो कि कुटुंबका सदस्य है और ऐसा लगता हो कि, उसे सुलटा नहीं पड़ेगा बल्कि उलटा पड़ेगा और उसे नुकसान होगा, क्योंकि उलटा पड़ने पर उसके परिणाममें नुकसान तो अवश्य होगा ही; तो ऐसी परिस्थितिमें एक दफा आपसमें चर्चा कर लेनी चाहिये कि, मुझे ये नुकसान हो रहा है और हमारा साथ रहनेका जो ये योग है, इसके कारणसे ये सब अनिवार्यरूपसे नुकसान होता है। इसमें आपका भी नुकसान है और मेरा भी नुकसान है और मुझे इस नुकसानसे बचना है तो क्या किया जाये? (सबके बीच बात करूँगा तो) आपकी बात बीचमें आ जायेगी तो क्या करे? बोलिये! आपकी कितनी तैयारी है, ये देख लो! इस प्रकार थोड़ी निखालिसतासे चर्चा भी कर लेनी चाहिये। इसमें फिर अगर सामनेवाला ऐसा कहे कि, आप अपना निर्दोष होनेका कोई दूसरा रास्ता पकड़ो,

मेरी बात बीचमें मत लाओ! तो फिर इसका दूसरा रास्ता भी है। दूसरा रास्ता ही नहीं, ऐसा नहीं है। अपना परलक्ष्य मिटानेका दूसरा रास्ता भी है।

मुमुक्षु :- भाईश्री! उसका दूसरा रास्ता क्या है?

पूज्य भाईश्री :- हाँ, इसका दूसरा रास्ता यह है कि, तेरा दोष तेरे कारणसे है। उस जीवके दोषके कारणसे तो तेरा दोष नहीं है। इस तरह बातको (स्वलक्ष्यसे) लो न! तेरा दोष किस कारणसे है? अपने कारणसे है। सामनेवाला तो दोष होनेमें उदयरूप निमित्त है। तेरा दोष यदि तुझे मिटाना है तो तू स्वलक्ष्यपूर्वक तेरे परलक्ष्यको मिटा। तुम स्वलक्ष्यमें रहो न! अब यहाँ इरादा तो हमें हमारा दोष मिटानेका है न! हमारा दूसरा कोई इरादा तो नहीं है। हमें हमारा दोष मिटाना है। हमारा दोष मिटानेके लिये हमारा जिस प्रकारका दोष हो, इससे विरुद्ध दिशामें जाना होगा। जैसे कि ये परलक्ष्यका दोष है तो स्वलक्ष्यमें आना होगा। असरलता होती हो तो सरलतामें आना होगा। मान चढ़ता हो तो नम्रतामें आना होगा। इस तरह जो-जो दोष हो इसके प्रतिपक्षरूप भावमें जाना होगा। अत: यह परलक्ष्य है इसलिये स्वलक्ष्यमें आना होगा। तीव्रतासे स्वलक्ष्यमें आना होगा।

(सामनेवाले व्यक्तिको तो ऐसा ही कहना चाहिये कि) आपको जाहिरमें सबके बीच कहनेकी छूट है, मुझे ज़ोर देकर कहना और अगर ऐसा हुआ तो तेरे जैसा कोई उपकारी नहीं, ऐसे लेना। कहनेवालेको उपकारी मानना। सही मुमुक्षुता तो ये है। एकदम उपकारी मानना चाहिये। सही बात तो ये है कि, जैसे पति-पत्नीका अंगत संबंध होता है तो अगर आप सामनेवालेको दोष नहीं कहते हो तो वास्तवमें आप उसके दुश्मन हो। कौन हो? दुश्मन हो! शास्त्रमें ऐसा न्याय आता है। अंगत संबंधका अर्थ क्या? हितेच्छु होता है। आप उसका हित चाहते हो - अहित चाहोगे क्या? (अगर अहित चाहते हो) तो आपका संबंध अंगत नहीं गिना जाता। वह संबंध सही कब? कि, सामनेवाला दोष बताये तब। और दोष दिख जाने पर नहीं बताये तो वास्तवमें दुश्मन है और यदि बताये तो मित्र है। ऐसा है, ऐसा न्याय है। अत: आपसमें एक दूसरेके साथ यह समझौता होना चाहिये कि, आप अवश्य मुझे कहना ही! आप मुझे नहीं कहेंगे तो वह आपके लिये ठीक नहीं। ऐसा आगेसे कहकर रखना चाहिये और बिलकुल बुरा नहीं लगाना चाहिये। खास करके दोनोंके बीच झगड़ा चलता हो उस वक्त सामनेवाला सच्चा-झूठा सब आरोप करेगा, क्योंकि वह गुस्सेमें है। इसलिये वह सही आरोप भी करेगा और गलत भी करेगा। वास्तवमें तब हमारी परीक्षा है। तब हमें ऐसा लेना है कि, अभी तो वह जो कहे वह सुन लेना है और उस पर विचार करना है। अगर झूठा आरोप हो तो भी कोई बात नहीं। इसका नुकसान उसको है। लेकिन अगर सही (आरोप) हो तो मुझे इसे सुधारना है। इतनी धीरज रखना ये बहुत बड़ी बात है। अगर ऐसी धीरज रख सके तो समझो तिर गया! प्रयास करना तो मालूम होगा कि, बात मुश्किल है - इतनी सरल नहीं है। यह बात थोड़ी मुश्किल है। क्योंकि उस वक्त उदय सामने आया है और जीव (प्राय:) उदयमें ही नुकसान करता है। उदयमें ही अटकता है और वहीं पर पछाड़ खाता है। अगर उस वक्त जीत गया तो हमेशाके लिये जीत गया। और अगर

गिर गया (हार गया) तो वापिस खड़ा होगा, वापिस खड़ा होनेका प्रयत्न करेगा, और अगर वापिस गिरा तो फिर से खड़ा होगा। ये सब चलता रहेगा। इसलिये जब कोई दोष कहे और उसमें भी कुटुंबका सदस्य जब कोई दोष कहे तो उसे उपकारी ही मानना। ये तो बराबर निश्चय कर ही लेना चाहिये, वह तो उपकारी ही है। इसमें दूसरा विकल्प कर्तव्य नहीं है या कुछ बुरा लगाने जैसा नहीं है। यह निश्चय रखना चाहिये।

(यहाँ हमारे चलते विषयमें) सत्संगमें रहकर जो योग्यता आयी हो वह योग्यता लौकिकभावके कारण नष्ट हो जाती है। इसे नष्ट होनेमें देर नहीं लगती। बहुत अल्प कालमें नष्ट हो जाती है। ऐसा यह बड़ा दोष है।

'...और स्त्री, पुत्र, आरंभ तथा परिग्रहके प्रसंगमेंसे यदि निजबुद्धि छोड़नेका प्रयास न किया जाये तो सत्संगके सफल होनेका संभव कैसे हो?' ऐसा कहते हैं। (सत्संग फलवान) होगा ही नहीं। स्त्री, पुत्र, आरंभ, परिग्रहमें यानी कि अपने संयोगोंमें अगर अपनत्व करना है और उस अभिप्रायमेंसे छूटना नहीं है (तो सत्संग कैसे फलवान होगा)? अपनत्वके अभिप्रायकी बात है। अपनत्वका भाव होना एक बात है और अभिप्रायपूर्वक होना वह दूसरी बात है। यहाँ मुख्यत: अभिप्रायका विषय लिया है। क्योंकि मुमुक्षुकी भूमिकाका विषय चल रहा है। *'...यदि निजबुद्धि छोड़नेका प्रयास न किया जाये तो सत्संगके सफल होनेका संभव कैसे हो?'* (कहते हैं कि), होगा ही नहीं।

मुमुक्षु : भाईश्री! अपनत्वका भाव छोड़ना और अपनत्वका अभिप्राय छोड़ना, इन दोनोंमें क्या अंतर है?

पूज्य भाईश्री :- इसमें क्या है कि, अभिप्राय विरुद्ध भी भाव होते हैं और अभिप्राय सहित भी भाव होते हैं। इस तरह दो प्रकारसे भाव होते हैं। अभिप्राय विरुद्ध होने पर तुरंत ही भीतरमें ठेस पहुँचती है, मालूम होते ही बहुत खेद होता है कि, अभी भी इस जीवको क्यों ऐसा हो रहा है?

५१० पत्रांकके दूसरे पैराग्राफमें आखिरमें लिया है न कि, *'अनुत्पन्न ऐसे इस जीवको पुत्ररूपसे मानना...'* अर्थात् अपने पुत्रको पुत्ररूप मानना। *'...अथवा ऐसा मनवानेकी इच्छा रहना,...'* (इच्छा) माने अभिप्राय रहना। *'...यह सब जीवकी मूढ़ता है, और यह मूढ़ता किसी भी प्रकारसे सत्संगकी इच्छावाले जीवको करना योग्य नहीं है।'* आप सत्संगको आत्मकल्याणके हेतुसे चाहते हो और साथमें ये मूढ़ता भी रखनी हो, तो यह बात नहीं बनेगी। दूसरी भाषामें कहें तो सत्संग एक ऐसा वर्ग है, सत्संगमें बैठना माने एक वर्गमें बैठना (ऐसा अर्थ है)। हमलोग नहीं कहते हैं? कि, भाईको मेट्रिकमें बैठना है, कॉलेजमें बैठना है। (वर्ग माने) क्लास। यह एक ऐसा वर्ग है कि, अगर आपको इस वर्गमें बैठना हो तो आपको (कुटुंबमें) अपनत्व मिटाकर बैठना चाहिये वरना आपको प्रवेश दिया नहीं जायेगा। No permission - ये हमारी फ़ीस है। हम कहते हैं न कि, आपको इस वर्गमें बैठना हो तो आपको इतनी फ़ीस देनी पड़ेगी और यहाँ तककी पढ़ाई की होनी चाहिये। आपको ग्यारहवीं कक्षामें बैठना हो तो दसवीं कक्षा पास की होनी चाहिये और ग्यारहवीं कक्षाकी फ़ीस भरनी होगी। दो शर्त रखनेके बाद आपको ग्यारहवीं कक्षामें बैठने देते हैं न? वरना

बैठने देंगे क्या? नहीं बैठने देंगे। वैसे यहाँ आपको अगर सत्संगमें बैठना है तो अपनत्व छोड़नेकी तैयारी है क्या? कुटुंब-परिवार और आरंभ-परिग्रह दो ही तो बात है। इसमें लंबी बात कहाँ है? वैसे तो सत्संगमें बैठनेकी कोई दूसरी फ़ीस लेते नहीं। यहाँ कोई भी आदमी कभी भी आकर बैठ जाये तो कोई उसे ना कहता है क्या? कि आपको फ़ीस देनी होगी। बाहरसे टिकट लेकर आओ (ऐसा कोई नहीं कहता)। एकदम मुफ्तमें बैठने मिलता है। तो यहाँ कहते हैं कि, इसके लिये ये फ़ीस है। आपको (आपकी मानी हुई) दुनियामेंसे (अपनत्व) छोड़ना होगा - ये इसकी फ़ीस है। एक तरफसे कोई फ़ीस नहीं है और दूसरी ओर से पूरी-पूरी फ़ीस है। क्योंकि यहाँ बैठनेके बाद हररोज़ **hammering** होगा, हथौड़े पड़ेंगे कि, आज कहाँ-कहाँ अपनत्व करके आये? लड़केकी तबियत बिगड़ी उसमें? पत्नीकी तबियत बिगड़ी उसमें? हिसाब दीजिये! कहाँ आपको अपनत्व हुआ? कहाँ जीव चिंतातुर हो गया? क्यों चिंतातुर हो गया? पड़ोसीके वहाँ कोई बीमार पड़े तब क्यों कुछ नहीं होता? इस तरह वैसे देखें तो फीस बड़ी भी है। वहाँ (जीवने) सर्वस्व माना है। क्या किया है? इस जीवने इन सभी उदयको सर्वस्व मान रखा है। यहाँ सर्वस्व छोड़नेकी बारी आती है और इसका लाभ भी बहुत बड़ा है। इसका लाभ भी बहुत बड़ा है! अत: हमें ऐसे लेना है कि, ये फ़ीस हमें चुकानी है, ये फ़ीस देकर बैठना है। इसका अर्थ यह हुआ कि, मुफ्तमें घुस नहीं जाना है। जैसे छोटे बच्चे होते हैं वे नाटक-सिनेमामें मुफ्तमें घुस जाते हैं न? सर्कसमें तो तंबू होता है इसलिये परदा ऊँचा करके घुस जाता है न! बचपनमें ये सब हमने भी किया है।

हमारे राणपुरमें सर्कस आता था। उस जमानेमें **China** का सर्कस आता था। **Chinese** लोग बहुत होशियार होते हैं। भारतके सर्कसके खिलाड़ी ऐसे नहीं होते। उन लोगोंके शरीर भी ऐसे होते हैं कि, रबरके माफिक मुड़ते हैं। उस जमानेमें हमें घरसे तो खर्च करनेके लिये पैसे मिलते नहीं थे फिर कहाँ से कैसे घुस जाना, ये ढूँढ़ते थे और मौका मिलने पर घुस भी जाते थे और कभी आधा घंटा - घंटा भर मेहनत करनेके बाद लगता कि अभी डंडा खाना पड़ेगा तो वापिस घर आ जाते थे। मार पड़ेगी इसके डरसे नहीं घुसते थे लेकिन अगर मौका मिले तो घुस जानेका! कभी-कभी ऐसा भी किया होगा। स्पष्टरूपसे याद नहीं है। परन्तु परिणाम तो ऐसे ही थे। ऐसे परिणाम होते थे। वैसे यहाँ सत्संगमें घुस नहीं जाना है। मुफ्तमें नहीं घुसना है, फ़ीस चुकानी है। ऐसा हमें अपने लिये सोचना चाहिये कि, ये फ़ीस मुझे चुकानी है।

सत्संगकी चाहत भी रखना और अपनत्व भी करना, ये उचित नहीं है। ये उचित नहीं होता है। सत्संग निष्फल जायेगा और जो बहुत बड़ा लाभ होनेवाला था उस लाभसे वंचित रहना हो जायेगा। इस जीवने अभी तक ऐसा ही किया है। सत्संग तो कई बार किया है परन्तु अपनत्व नहीं छोड़ा। अपनत्व छोड़ना चाहिये - इस बात पर ध्यान होना चाहिये, बजाय इसके प्रतिबंध दृढ़ किया होता है। और फिर बादमें कुछ भान नहीं रहता। क्या परिस्थिति हो जाती है!

*

(प्रवचनका शेष अंश आगेके अंकमें...)

वर्तमानमें आयुष्य अल्प है, और इस आयुष्यके सद्भावमें भी शरीर प्रायः अशाताको भोगनेका ही साधन बनता है; चाहे कितनी भी शरीरकी सावधानी / सँभाल करें, फिर भी रोगादि उपद्रव हुआ ही करते हैं, और वे पूर्वकर्म अनुसार होते हैं, जब ऐसी परिस्थिति है कि वर्तमान प्रयत्नसे यह पूर्वकर्मसे बचना नहीं हो सकता, तो फिर इस कायाकी अगर मोक्षमार्गमें आहुति देनेसे (कायासे उपेक्षित होकर पुरुषार्थको मोक्षमार्गके प्रति लगानेमें आये तो) परमशुद्ध चैतन्यघन अविनाशीपदकी प्राप्ति होती हो तो फूटी कौड़ीके बदलेमें चिंतामणी रत्नसे भी अधिक लाभ हुआ; ऐसा समझने योग्य है।

– पूज्य भाईश्री शशीभाई
(‘अनुभव संजीवनी’ बोल-४०२)

नया प्रकाशन (सिर्फ गुजराती भाषामें)

‘अध्यात्म पिपासा’ (भाग-७)

प्रशममूर्ति धन्यावतार पूज्य बहिनश्रीकी तत्त्वचर्चाका ग्रंथ ‘स्वानुभूतिदर्शन’ पर अध्यात्मयोगी पूज्य भाईश्री शशीभाईके प्रवचनोंकी श्रृंखला ‘अध्यात्म पिपासा’ भाग-७ (केवल गुजरातीमें) पूज्य भाईश्री की ९४ वीं जन्म जयंतिके अवसर पर दि : १७-१२-२६ को प्रकाशित किया जायेगा। जो मुमुक्षु गुजराती भाषासे परिचित हों और इसके स्वाध्यायके लिये इच्छुक हों वे अपनी प्रत दि: ३०-१०-२६ तक रजिस्टर करवा लें।

– श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट
श्री नीरव वोरा ९८२५०५२९१३

आभार

‘स्वानुभूतिप्रकाश’ (सितंबर-२०२६, हिन्दी एवं गुजराती) के इस अंककी समर्पणराशि

श्री सौरभ पियुषभाई भायाणी, कोलकाता

की ओरसे ट्रस्टको साभार प्राप्त हुई है।

अतएव यह पाठकोंको आत्मकल्याण हेतु भेजा जा रहा है।

निर्विकल्प होनेका एक ही उपाय - भेदज्ञान

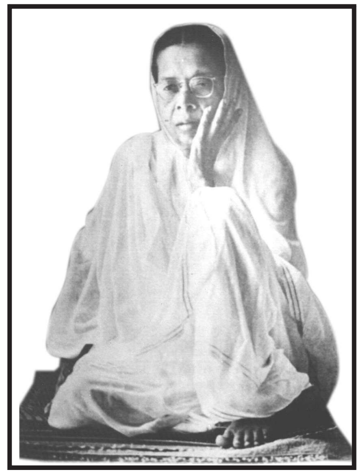

तत्त्वचर्चा मंगलवाणी-सीडी-१६-A

- प्रशममूर्ति पूज्य बहिनश्री चंपाबहिन

समाधान :- रीत, वह तो स्वयं ही अन्दरसे मार्ग कर ले। खुद को जिज्ञासा हो तो स्वयं ही अन्दरसे होता है। विकल्पसे समझ में आये लेकिन अन्दरसे भिन्न होना, भेदज्ञान करना वह सब अपने हाथ की बात है। उसका भेदज्ञान के सिवा कोई उपाय नहीं है। यह शरीर भिन्न, आत्मा भिन्न, विभाव मेरा स्वभाव नहीं है, उसका मैं जाननेवाला ज्ञायक हूँ। उसे प्रतिक्षण पुरुषार्थ करना और भेदज्ञान करना अपने हाथ की बात है।

मुमुक्षु :- निरंतर भेदज्ञान करना।

समाधान :- निरंतर करना। अंतर स्वभाव को पहचानकर करना। अंतरसे हो वह यथार्थ होता है। परंतु जबतक नहीं होता तबतक उसकी भावना करे, रटना करे, भेदज्ञान भले विकल्पसे करे लेकिन यथार्थरूपसे तो जब सहज होता है तब होता है। भेदज्ञान एक ही उपाय है। निर्विकल्प होने का उपाय एकही है। द्रव्य पर दृष्टि करके भेदज्ञान करना यही एक उपाय है। दूसरा कोई उपाय नहीं है।

मुमुक्षु :- द्रव्य को अकारण पारिणामिक कहा है, वह किसप्रकार कहा है? किस अपेक्षासे कहा है?

समाधान :- उसे कोई कारण नहीं लागू पड़ता। वह तो स्वतः है न। किसी के कारणसे परिणमे ऐसा द्रव्य हो तो पराधीन हो जाय। किसीका कारण मिले तो। वह तो अनादिअनन्त स्वतःसिद्ध है।

मुमुक्षु :- शाश्वत है।

समाधान :- शाश्वत है, अपनेआप ही स्वयं परिणमता है। विभाव में जानेवाला स्वयं है और स्वभावरूप परिणमनेवाला स्वयं ही है। कर्म तो मात्र निमित्त है। स्वयं ही परिणमता है, दूसरा कोई नहीं परिणमता। स्वयं अकारण स्वतःसिद्ध अनादि शुद्ध है। अशुद्धता अपनी परिणति में होती है, कर्म के निमित्तसे।

मुमुक्षु :- उसे किसी पर्याय की या अन्य किसीकी अपेक्षा नहीं है।

समाधान :- उसे पर्याय की अपेक्षा नहीं है। पर्याय तो उसकी परिणति है। उसकी पर्याय स्वतः परिणमती है। पर्याय और द्रव्य के बिलकुल टुकड़े नहीं है। द्रव्य के आश्रयसे पर्याय होती है। द्रव्य के आश्रयसे पर्याय होती है, लेकिन सब स्वतः है। किसीके कारणसे नहीं होता। स्वयं ही जिसप्रकार परिणमना हो उसप्रकार स्वयं परिणमता है। द्रव्य स्वयं (परिणमता है)। द्रव्य के मूल स्वभाव में अशुद्धता

नहीं होती। पर्याय परिणमती है इसलिये पर्याय भिन्न परिणमती है और द्रव्य भिन्न, ऐसे टुकड़े नहीं हैं। द्रव्य का स्वभाव भिन्न है और पर्याय एक अंश है और आत्मा अंशी है। इतना उसका भेद है, बाकी सर्वथा वह एक टुकड़ा है और यह एक टुकड़ा है, ऐसे टुकड़े नहीं है।

मुमुक्षु :- हे माताजी! अनन्त गुणस्वरूप आत्मा के एकरूप स्वरूप को दृष्टि में लेकर उसे एक को ही ध्येय बनाकर उसमें एकाग्रता का प्रयत्न करना वही प्रथम शान्ति, सुख का उपाय है। ऐसा वचनामृत में आता है।

समाधान :- अनन्त गुणस्वरूप आत्मा है उस एक को ही लक्ष्य में लेना। उसके गुणभेद पर दृष्टि रखकर, एक को ही लक्ष्य में ही लेना। मैं आत्मा एक चैतन्य अभेद तत्त्व हूँ। उसे लक्ष्य में लेना, उसका ध्येय एक ही उपाय है, दूसरा कोई उपाय नहीं है। उसे इस विभाव के साथ अथवा किसीके साथ (सम्बन्ध नहीं है)। उससे भिन्न है। उससे न्यारा, उसका स्वभाव भिन्न, सबप्रकारसे वह भिन्न है। उसे लक्ष्य में लेकर उस एक को ही ध्येय में रखना, उसकी ही प्रतीति, उसका ज्ञान और उसमें ही एकाग्रता करनी। एकाग्रता और प्रतीति सब उसमें ही करनेसे शान्ति और सुख प्रगट होते हैं। उसमेंसे ही। दूसरा कोई उसका उपाय नहीं है। उपाय तो एक ही है। फिर नहीं हो तबतक यह वांचन, विचार आदि बीचे में होता है। लेकिन ध्येय तो इस एक का ही रखना है।

(तत्त्वचर्चाका शेष अंश आगेके अंकमें...)

*

(पृष्ठ संख्या १८से आगे...)

जीवके कर्तृत्व-अकर्तृत्वका समागममें श्रवण होकर निदिध्यासन करना योग्य है।

वनस्पति आदिके योगसे बँधकर पारेका चाँदी आदिरूप हो जाना, यह संभव नहीं है, ऐसा नहीं है। योगसिद्धिके प्रकारसे किसी तरह ऐसा होना योग्य है, और उस योगके आठ अंगोंमेंसे जिसे पाँच अंग प्राप्त हैं, उसे सिद्धियोग होता है। इस प्रकारके सिवायकी कल्पना मात्र कालक्षेपरूप है। उसका विचार उदयमें आये, वह भी एक कौतूकभूत है। कौतूक आत्मपरिणामके लिये योग्य नहीं है। पारेका स्वाभाविक पारापन है।

*

पत्रांक-४१०

बंबई, आसोज सुदी ७, मंगल, १९४८

प्रगट आत्मस्वरूप अविच्छिन्नरूपसे भजनीय है।

वास्तविक तो यह है कि किये हुए कर्म भोगे बिना निवृत्त नहीं होते, और न किये हुए किसी कर्मका फल प्राप्त नहीं होता। किसी किसी समय अकस्मात् वर अथवा शापसे किसीका शुभ अथवा अशुभ हुआ देखनेमें आता है, वह कुछ न किये हुए कर्मका फल नहीं है। किसी भी प्रकारसे किये हुए कर्मका फल हैं।

एकेन्द्रियका एकावतारीपन अपेक्षासे जानने योग्य है। यही विनती।

'दृष्टिका परिणमन और दृष्टिका विषय'

– 'द्रव्यदृष्टि प्रकाश' – पूज्य निहालचंद्रजी सोगानी

दृष्टिका विषयभूत द्रव्य एकांत कूटस्थ ही है। पर्यायकी अपेक्षासे पर्याय एकांत अनित्य ही है। (– यह सम्यक् एकांत है।) **३२.**

*

'मैं' तो कभी भी नहीं हिलनेवाला खूँटा हूँ। परिणाम आते हैं और जाते हैं, मगर 'मैं' तो खूँटेकी तरह अचलित ही रहता हूँ। ४०.

*

'मैं' तो अडिग हूँ; किसीसे डिगनेवाला नहीं हूँ। जैसे इस देहाकारमें स्थित आकाश अडिग है, हिलता-चलता नहीं; वैसे ही 'मैं' भी अडिग हूँ। ५०.

*

चैतन्य-गठरी 'मैं' ही हूँ – ऐसी पकड़ हो जानेसे मति-श्रुतज्ञान अंतरमें ढल जाता है; इसलिए अंतरमें ढलनेके लिए (उपदेशमें) **कहनेमें आता है। ५३.**

*

'मैं' वर्तमानमें ही समझणका पिण्ड हूँ। ५४.

*

प्रश्न :– शास्त्रमें तो प्रयत्न करना....प्रयत्न करना, ऐसी बात आती है?

उत्तर :– प्रयत्न करनेके लिए कहनेमें आता है; प्रयत्न होता भी है; लेकिन प्रयत्न भी तो पर्याय है। 'मैं तो पर्याय मात्रसे भिन्न हूँ', प्रयत्न क्या करें? – सहजरूप होता है। प्रयत्न आदिका 'होना' पर्यायका स्वभाव है। 'मैं' उसमें न आता हूँ, न जाता हूँ; 'मैं त्रिकाली हूँ' – ऐसी दृष्टिमें प्रयत्न सहज होता है। ७१.

*

आखी वस्तु (प्रमाणका विषय) **बतानेमें नित्य और अनित्य बतानेमें आता है; इसमें अनित्य अंग दूसरे (द्रव्य)का नहीं है, ऐसा बतानेके लिए है। परंतु दृष्टिका विषय तो 'नित्य ही हूँ' है, और अनित्य मेरेसे भिन्न ही है। उसका (उत्पाद-व्ययका) भाव और मेरा (ध्रुवका) भाव विरुद्ध है। ७५.**

*

(पृष्ठ संख्या ०२से आगे...)

चाहिये) और इसमें हमारे अनुभवकी साक्षी है कि फिर कहीं दुःख नहीं होता। इसके बजाय अपेक्षा रखोगे कि 'इसको ऐसा करना चाहिये, इसका यह कर्तव्य है, उसको वैसा करना चाहिये क्योंकि उसका वैसा कर्तव्य है' – तो दुःख होगा ही। क्योंकि हमारे विकल्प अनुसार, हमारे अभिप्राय अनुसार दूसरे जीवका परिणमन होना – यह कोई ज़रूरी नहीं है। उस जीवका परिणमन स्वतंत्र है। अतः दुःखी होना, होना और होना ही पड़ेगा। इसके बजाय हमें एक निश्चय कर लेना है कि हमें किसी से कोई अपेक्षा रखनी ही नहीं है न! चाहे जैसे भी चला लेंगे परंतु अपेक्षा नहीं रखनी है। घरमें चाहे बाहरमें कहीं भी, किसी लौकिक संबंधमें चाहे मुमुक्षु संबंधमें, कोई भी संबंध हो, क्योंकि संबंध बिना तो अपेक्षा रखनेका सवाल पैदा नहीं होता क्योंकि किसी अनजान आदमीसे तो कोई अपेक्षा रखता नहीं है। जैसे कि यह रास्तेसे गुज़र रहा आदमी क्यों मेरे सामने नहीं देखता है? जहाँ संबंध है वहाँ जीवको अपेक्षावृत्ति पैदा हो जाती है और इसके कारण फिर जीव दुःखी होते हैं। यह बात सबको अनुभवगम्य होवे ऐसी है। सबको अनुभवमें आये ऐसी बात है और अगर हमें सुखी होना हो और दुःखी नहीं होना हो तो यह पक्का निश्चय कर लो (गाँठ मार लो) कि मुझे किसीसे अपेक्षा रखनी ही नहीं है न! अपेक्षा ही नहीं चाहिये हमें बस! फिर कोई आपत्ति नहीं है।

अगला जीव अगर अपना कर्तव्य चूकता हो तो वह उसका दोष है। परंतु इसके बहाने हम हमारी अपेक्षावृत्तिको अभिप्रायमें द्रढ कर ले, ऐसी भूल नहीं होनी चाहिये। अतः यहाँ 'कृपालुदेव' स्वयं भी 'सोभागभाई'को चाहते तो सहाय कर सकते थे, आर्थिक सहाय दे सकते थे। 'सोभागभाई'की ऐसी स्थिति होनेके बावजूद भी आर्थिक सहाय नहीं की है तो क्यों? 'सोभागभाई'के परिणाम तो वैसे अभिप्रायरूप नहीं हो जाते, परंतु उनके बच्चोंका अभिप्राय तो वैसा हो ही जाता कि, हमें कुछ मिलना ही चाहिये था, जरूरतके समय हमें (काम न आये) तो वैसा संबंध किस कामका? इतना गहरा रिश्ता है वह किस कामका? सही वक्त पर काम न आये वैसा रिश्ता किस कामका? ऐसी अपेक्षावृत्तिका जन्म तबसे शुरू हो जाता, फिर जब भी सहाय न मिले तब आकुलता होती, अपेक्षाकी आपूर्ति न होनेपर अकुलाहट हो जाती और द्वेषभाव हुए बिना नहीं रहता। रागके कारण अपेक्षा रखी हो, वह अपेक्षाकी आपूर्ति न होनेपर द्वेष आये बिना रहेगा नहीं।

(प्रवचनांश...'श्रीमद् राजचंद्र' पत्रांक – ३६८, दि. ७-११-१९९८, प्रवचन क्र.-७५८)

आवश्यक सूचना

''स्वानुभूतिप्रकाश'' मासिक पत्रिका समयपर प्राप्ति हेतु जिन लोगोंको (e-copy) - pdf. की अगर आवश्यकता हो तो वे अपना रजिस्ट्रेशन करवाने हेतु निम्न नंबर पर संपर्क करें। श्री नीरव वोरा – ९८२५०५२९१३

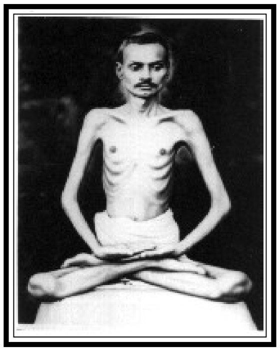

- परम कृपालुदेव श्रीमद् राजचंद्रजी राजहृदय

पत्रांक – ४०८

बंबई, भादों वदी ८, बुध, १९४८

ॐ नमस्कार

जिस जिस कालमें जो जो प्रारब्ध उदयमें आता है उसे भोगना, यही ज्ञानीपुरुषोंका सनातन आचरण है, और यह आचरण हमें उदयरूपसे रहता है; अर्थात् जिस संसारमें स्नेह नहीं रहा, उस संसारके कार्यकी प्रवृत्तिका उदय है, और उदयका अनुक्रमसे वेदन हुआ करता है। इस उदयके क्रममें किसी भी प्रकारकी हानि–वृद्धि करनेकी इच्छा उत्पन्न नहीं होती, और ऐसा जानते हैं कि ज्ञानीपुरुषोंका भी यह सनातन आचरण है; तथापि जिसमें स्नेह नहीं रहा, अथवा स्नेह रखनेकी इच्छा निवृत्त हुई है, अथवा निवृत्त होने आयी है, ऐसे इस संसारमें कार्यरूपसे–कारणरूपसे प्रवर्तन करनेकी इच्छा नहीं रही, उससे निवृत्तिकी इच्छा ही आत्मामें रहा करती है, ऐसा होनेपर भी उसके अनेक प्रकारके संग–प्रसंगमें प्रवर्तन करना पड़ता है ऐसा पूर्वमें किसी प्रारब्धका उपार्जन किया है, जिसे समपरिणामसे वेदन करते हैं तथापि अभी भी कुछ समय तक वह उदययोग है, ऐसा जानकर कभी खेद पाते हैं, कभी विशेष खेद पाते है; और विचारकर देखनेसे तो उस खेदका कारण परानुकंपा ज्ञात होता है। अभी तो वह प्रारब्ध स्वाभाविक उदयके अनुसार भोगनेके सिवाय अन्य इच्छा उत्पन्न नहीं होती, तथापि उस उदयमें अन्य किसीको सुख, दुःख, राग, द्वेष, लाभ, अलाभके कारणरूप दूसरेको भासित होते हैं। उस भासनेमें लोक प्रसंगकी विचित्र भ्रांति देखकर खेद होता है। जिस संसारमें साक्षी कर्तारूपसे माना जाता है, उस संसारमें उस साक्षीको साक्षीरूपसे रहना और कर्ताकी तरह भासमान होना, यह दुधारी तलवारपर चलनेके बराबर है।

ऐसा होनेपर भी वह साक्षीपुरुष भ्रांतिगत लोगोंको किसीके खेद, दुःख, अलाभका कारण भासित न हो, तो उस प्रसंगमें उस साक्षीपुरुषकी अत्यंत विकटता नहीं है। हमें तो अत्यंत अत्यंत विकटताके प्रसंगका उदय है। इसमें भी उदासीनता यही ज्ञानीका सनातन धर्म है। 'धर्म' शब्द आचरणके अर्थमें है।

एक बार एक तिनकेके दो भाग करनेकी क्रिया कर सकनेकी शक्तिका भी उपशम हो, तब जो ईश्वरेच्छा होगी वह होगा।

*

पत्रांक–४०९

बंबई, आसोज सुदी १, बुध, १९४८

(अनुसंधान पृष्ठ संख्या १५ पर..)

‘स्वानुभूतिप्रकाश’ पत्रिका सम्बन्धित महत्वपूर्ण सूचना

जयजिनेन्द्र! इससे यह सूचित किया जाता है कि ‘स्वानुभूतिप्रकाश’ आध्यात्मिक मासिक पत्रिका हिन्दी/गुजरातीमें पिछले २८ सालसे आपके स्वाध्याय हेतु भेजी जा रही है। अब इसे काफ़ी समय होनेसे कई पते बदल चुके हो या पत्रिकाका सदुपयोग न होकर किसी भी प्रकारकी असातना होनेकी संभवितताको देखते हुए यह पत्रिकाको आगे प्राप्त करनेके इच्छुक सभी मुमुक्षुओंको पुनः अनिवार्यरूपसे अपने पतेका **registration** करवाना होगा – ऐसा ट्रस्ट द्वारा नक्की किया गया है।

इसके तहत आगामी अक्टूबर–२०२६ तककी समयसीमामें अपने पतेकी पूरी जानकारी नीचे दिये गये फॉर्ममें लिखकर इसकी फ़ोटो हमारे **whats app** नं. ९४०८३०३१५२ पर भेजना होगा। नवम्बर–२०२६ से केवल पुनः **registered** पते पर यह पत्रिका भेजी जायेगी। जो मुमुक्षु अपना **registration** नहीं करवायेंगे उन्हें इस पत्रिकाकी उपयोगिता एवं आवश्यकता नहीं है यह समझकर उन्हें यह पत्रिका नहीं भेजी जायेगी। कृपया इस बातको ध्यानमें लेवें।

आपको हार्ड कॉपी या **pdf file** या दोनों – जिसकी भी आवश्यकता हो उसे बॉक्समें टिक करें।

–प्रबंध ट्रस्टी

श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट

हार्ड कॉपी ☐   **pdf** फ़ाइल ☐

वर्तमान रजिस्टर्ड नं. :– ____________

नाम :– ______________________________

पता :– ______________________________

____

पिनकोडः–

____

मोबाइल नं :– ____________

REGISTERED NO. : BVHO - 253 / 2024-2026
RENEWED UPTO : 31/12/2026
R.N.I. NO. : 70640/97
Title Code : GUJHIN00241
Published : 10th of Every month at BHAV.
Posted at 10th of Every month at BHAV. RMS
Total Page : 20

'सत्पुरुषों का योगबल जगत का कल्याण करे'

... दर्शनीय स्थल...

श्री शशीप्रभु साधना स्मृति मंदिर
भावनगर

स्वत्वाधिकारी श्री सत्श्रुत प्रभावना ट्रस्ट की ओर से मुद्रक तथा प्रकाशक श्री नीरव धर्मेन्द्र वोरा द्वारा अजय ऑफसेट, १२-सी, बंसीधर एस्टेट, बारडोलपुरा, अहमदाबाद - ३८० ०१६ से मुद्रित एवं १९४२ - बी, शशीप्रभु मार्ग, रूपाणी, भावनगर - ३६४ ००१ से प्रकाशित ।

संपादक : श्री नीरव धर्मेन्द्र वोरा - 98250 52913

Printed Edition : **3450**
Visit us at : http://www.satshrut.org

If undelivered please return to ...

Shri Shashiprabhu Sadhana Smruti Mandir
1942/B, Shashiprabhu Marg, Rupani,
Bhavnagar - 364 001

mayur process 9374825041